वास्तु पुरुष का पौराणिक स्वरूप एवं उसका महत्त्व

डॉ0 निहारिका कुमार *

'वास्तु' शब्द संस्कृत की धातु 'वस' से निर्मित है, जिसका शाब्दिक अर्थ है– निवास करना। वास्तुशास्त्र एक ऐसा विज्ञान है, जो भूखण्ड या भवन निर्माण की जानकारी देता है साथ ही यह नगर, महल, भूखण्ड निर्माण के बारे में भी विस्तृत जानकारी देता है। इस शास्त्र का मुख्य उद्देश्य मानव को प्रकृति के साथ शांति पूर्ण ढंग से रहने के लिए अनुकूल बनाना है। यह शास़्त्र हमें महर्षि[1] द्वारा प्रदान किए गए हैं। वास्तु वह विशिष्ट क्षेत्र या भूमि है, जिसको गाँव या पड़ोस के रूप में चिन्हित किया गया है। वास्तु भवन के निर्माण से भी सम्बन्धित है। व्यवहार में, विशिष्ट स्थल को वास्तु कहा जाता है, और उस पर निर्माण होने के बाद उसे प्रासाद–वास्तु (भवन) कहा जाता है।[2] मानसार में वास्तु की व्याख्या ईश्वर या मानव के निवास स्थान (गृह) के रूप में की गई है।[3] कामिकागम में विमान, प्रासाद, भवन, गृह, वास्तु वास्तुक, क्षेत्र, स्थान, सदन आदि को इसके समानार्थक अर्थ में व्यक्त किया गया है।[4] मयमत ने व्यक्त किया है कि भूमि (पृथ्वी) ही वास्तु है, क्योंकि इसकी नई परतों में अस्तित्व दबा हुआ है।[5]

ईशानशिवगुरूदेवपद्धति ने व्यक्त किया है कि वास्तु का शरीर वस्तु है। चूँकि वस्तु ठोस, वास्तविक अस्तित्व को इंगित करती है।[6] इसे देवताओं और मनुष्यों के लिए निर्मित वास्तविक शरण–स्थल के रूप में भी व्यक्त किया गया है।[7] इसीलिए वास्तु प्राथमिक रूप से निवास स्थान या शरण–स्थल को इंगित करता है। वास्तु–कला, एक कला या विज्ञान है, जो निवास स्थान, भवन, शरण स्थल की रचना करता है।[8] शिल्प नामक ग्रन्थ में वास्तु की व्याख्या ऐहिक मनुष्य[9] के निवास–स्थल और ईश्वर, मानव या पशु[10] के निवास–स्थल के रूप में की गई है। 'वास्तु' शब्द की व्युत्पत्ति का वर्णन निम्न प्रकार से किया जा सकता है[11] –

वसन्ति प्राणिनो त्रेति वास्तु पदव्युत्पत्तिः।

(जहाँ मनुष्य रहते हैं वहाँ ही वास्तु का उद्‌गम है।) मयमत में इसे दो चरणों में व्यक्त किया गया है।

अमृत्याश चैव मृत्याश च यत्र यत्र वसन्ति ही तद वास्तु इतिमतम्।

वह स्थान जहाँ मरणशील और अमर दोनों ही प्रकार के प्राणी रहते है– वास्तु कहलाता है। जैसे निवास–स्थल इत्यादि।

प्रासादादिनि वास्तूनि वास्तुतवाद वास्तुसमश्रयात्।

एक संरचना जो उचित विधि द्वारा निवास–स्थल के ऊपर निर्मित होने के कारण वास्तु कहलाती है।[12]

'वास्तु' शब्द का अर्थ स्थान या गृह की नींव, भूमि, भवन, निवास–स्थल और बड़ी इमारतें इत्यादि के रूप में वैदिक काल में प्रचलित था।[13] पाणिनी की अष्टाध्यायी[14] और महाकाव्यों[15] से यह सुनिश्चित हो जाता है कि वास्तु 'गृह' या 'निर्मित भवन' से सम्बन्धित है। अर्थशास्त्र से विदित होता है कि घर, मैदान, उद्यान, किसी तरह का भवन, तालाब और जलाशय इत्यादि सभी वास्तु के अन्तर्गत आते थे।[16] कालान्तर में पूर्वमध्यकाल और मध्यकालीन शिल्पशास्त्रों में 'वास्तु' शब्द का प्रयोग 'शिल्प' के पर्यायवाची के रूप में हुआ है तथा वास्तुशास्त्र को शिल्पशास्त्र भी कहा जाने लगा।[17]

* सहायक उप शिक्षा निदेशक(प्रभारी) राज्य शिक्षा संस्थान, प्रयागराज

ऋग्वेद में निम्नलिखित उल्लेख मिलता है[18] –

वास्तोष्पते प्रतिझानीहस्मान
स्वावेषो अनामीवो भवानः।

जिसका अर्थ है – हे गृह के देवता ! आप हमारी रक्षा करें। यह कथन 'वास्तु' – जगह या भवन को चिह्नित करता है, जहाँ निवास किया जाता है। वास्तु शब्द की व्युत्पत्ति को इस प्रकार भी व्यक्त किया जा सकता है – 'वसन्ति प्राणिनः यत्र'। शब्द 'वास' निवास[19] के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। वास्तोस्पति को गृह का रक्षक माना गया है। और गृह–क्षेत्र आन्तरिक रूप से तारों या ग्रहों से जुड़े हैं, जो कि संरक्षक के रूप में आस–पास ही विचरण करते हैं। वास्तु का ज्योतिष से सम्बन्ध पूर्व वैदिक काल से है। इसे और अधिक स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है कि 'वास्तु' वैदिक देवता 'रूद्र' से सम्बन्धित हैं जो कि शतपथ ब्राह्मण[20] और तैत्तिरीय ब्राह्मण[21] में 'वस्तव्य' के रूप में वर्णित है। उल्लेखनीय है कि आपस्तम्ब श्रौत सूत्र[22], वास्तोस्पति को 'ग्रह–देवता' के साथ–साथ 'ग्रह–क्षेत्र देवता' के रूप में वर्णित करता है।

पुराण और स्मृतियाँ वास्तु के क्षेत्र को विस्तृत कर इसमें निवास–स्थान या भवन के साथ–साथ हर तरह के निर्माण, व्यक्तिगत या सार्वजनिक, को भी सम्मिलित करते हैं। गरूड़ पुराण वास्तु को भवन, घर, पुरवा, महल, नगर–निर्माण, उद्यान, फुलवारी, व्यावसायिक गलियों का निर्माण दुर्ग, मन्दिर, और विहार निर्माण के अर्थ में व्यक्त करता है।[23]

आवास – वास्म – वेशमा दौपुरे ग्रामे वनिकपथे।

प्रासादाराम – दुर्गेषु देवालय – मठेषु च।[24]

अर्थशास्त्र में इस सूची में बाँधों का निर्माण, जलाशय की खुदाई को भी सम्मिलित किया गया है।[25] दोनों ही स्रोतों में उस भूमि को जिस पर भवन और उद्यान स्थापित है, वास्तु के अर्थ में सम्बोधित किया गया है।

पुराणों और शास्त्रों जैसे– अर्थशास्त्र और शुक्रनीति में भवनों, महलों, सेतुओं, नहरों, दुर्गों, बाँधों, जलाशयों, सड़कों, उद्यानों के निर्माण की कला या विज्ञान का उल्लेख किया गया है, और इसको ही वास्तुविद्या या वास्तुशास्त्र कहा गया है। कहीं–कहीं इस विधा को सिर्फ 'वास्तु' ही कहा गया है, जैसा कि गरूड़पुराण में उल्लिखित है।[26] ऐसे सन्दर्भ मिलते हैं कि इस कला या विज्ञान को बुद्धिमान ऋषियों एवं निपुण अभियन्ताओं द्वारा कठिन परिश्रम करके उन्नत बनाया गया। मत्स्यपुराण में 18 ऐसे वास्तु आचार्यों की सूची निर्दिष्ट है, जिन्होंने इस कला को 'परम्परा' में विकसित किया।[27]

वास्तुपुरूष : उद्भव एवं अवधारणा

वास्तुपुरूष की उत्पत्ति रूद्र से मानी जाती है। रूद्र और अन्धक दैत्य के बीच युद्ध में अन्धक मारा गया था। यह माना जाता है कि अन्धकासुर दैत्य का वध शिव के धनुष से उत्पन्न एक अन्य भूत या यक्ष, जो कि वीभत्सकारी था, के द्वारा किया गया। वह सम्पूर्ण संसार को नष्ट करना चाहता था। शिव ने उसको वरदान दिया कि वह अपने निवास के लिए अलग स्थान चुने, जहाँ देवता भी उसके साथ रह सकें और इस कारण से वह 'वास्तु' कहा जाने लगा।[28] इस प्रकार उस दैत्य को एक निश्चित स्थान पर बाँध दिया गया और देवताओं से पूछा गया कि वह दैत्य कैसा स्वरूप धारण करें एवं किस प्रकार की जीवनशैली अपनाए? इसके साथ ही यह भी कहा गया कि दैत्य वास्तु उस स्थान पर अपना सिर (मुख) नीचे की तरफ रखे और भोजन के लिए वह वास्तु शांति एवं वास्तु–पूजा के अवसर पर दी जाने वाली भेंट स्वीकार करें।[29]

अवंगमुखो निपतित ईशनयम दिशि समस्थितः।[30]

इसका अर्थ है कि वास्तुपुरूष अपने चेहरे को उत्तर पूर्व कोने की ओर किए हुए बैठा है। अग्निपुराण और अन्य पुराण, वास्तु और वास्तुपुरूष में भेद नहीं करते हैं। पुराण, वास्तु और वास्तुपुरूष की प्रकृति के विषय में स्पष्ट है। उनके अनुसार वास्तुपुरूष दैत्य के स्वरूप का है।[31] (वास्तु मुत्तानम सुराकृत्रिम्।) उसकी आकृति भवन के नींव में रखी जानी चाहिए। उस आकृति के छोटे–छोटे हाथ उत्तर दिशा की ओर मुड़े हों, जो घुटने पर उत्तर–पश्चिम की ओर संकेत करते हुए बैठा हो और उसकी कोहनी दक्षिण–पूर्व की ओर निर्दिष्ट हो। उसके शरीर पर विविध देवता दिखने चाहिए।[32] इस आकृति के ऊपरी पृष्ठभाग पर निवास–स्थल का नक्शा बनाना चाहिए, जिससे विविध देवता अलग–अलग स्थान पर रहें। एक किंवदन्ती में इस वास्तुपुरूष को नीचे लिटाए जाने के पीछे छिपे कारण की व्याख्या मिलती है कि वह एक वीभत्स जीव है, जो पृथ्वी के गर्भ से प्रकट हुआ था। वह देखने में डरावना था और उसके काले दाँत, शंक्वाकार कान तथा शरीर पर खड़े बाल थे। वह देवताओं के नियन्त्रण से परे था। अन्त में विष्णु ने उसे शान्त किया और एक समझौता हुआ कि देवता जो उसके शरीर के विभिन्न अंगों से बाहर आएंगे, वे भवन–निर्माता द्वारा पूजे जाने चाहिये। यदि वह ऐसा करने में असफल होते हैं, तो वास्तुपुरूष उन्हें नष्ट कर देगा।[33] (चित्र–1)

मत्स्यपुराण भी इसी प्रकार की जानकारी देता है कि दैत्याकार मानवीय शरीर, शिव और दैत्य अंधक के युद्ध के दौरान शिव के मस्तक (माथा) से पसीने की बूँदों के भूमि पर गिरने से उत्पन्न हुआ था। अन्धकासुर अर्थात् उस जीव के शरीर के प्रत्येक हिस्से को विभिन्न देवता और दैत्य जकड़े हुए थे। जिस हिस्से को जिस देवता या दैत्य द्वारा जकड़ा गया था, उसे उसी दवता या दैत्य का स्थायी निवास 'वास्तुयोजना' में मान लिया गया।[34] यहाँ वास्तुपुरुष षाष्टांग दण्डवत किए हुए मुद्रा में निर्दिष्ट हैं, जिसमें मुख नीचे की ओर है, (चित्र–2) जबकि पहले सन्दर्भ में वह बैठी हुई मुद्रा में निर्दिष्ट है।

वास्तुपुरूष को इस प्रकार स्थापित किया गया है कि इसका भूमि के प्रत्येक हिस्से पर वास रहता है, भूमि का विभाजन चाहे जितना छोटा क्यों न हो। भूमि के 100 सम चतुष्कोणीय भाग, या 81 भाग, या 64 भाग हों, जिसे पद भी कहा गया है, के प्रत्येक हिस्से में वास्तुपुरूष वास करे। इस प्रकार वास्तुपुरूष प्रत्येक पद या इकाई पर राज करे।[35] मत्स्यपुराण में वास्तु को इस प्रकार वर्णित किया गया है[36] कि जीव के शरीर पर बहुत सारे देवताओं का निवास है, इसीलिये वह वास्तु कहलाने लगा। मत्स्यपुराण, पुराणों में प्राचीन पुराण माना जाता है (200–450 ई0), जबकि अग्निपुराण एवं गरूड़पुराण के वर्तमान स्वरूप का समय नहीं सुनिश्चित किया जा सकता है, इस सन्दर्भ में यही कहा जा सकता है कि ये दोनों पुराण मत्स्यपुराण के बाद लिखे गये हैं।[37] इससे यह समझा जा सकता है कि वास्तु पुरूष की धारणा, जैसी कि पुराणें में वर्णित है, द्वितीय शताब्दी ईस्वी में स्थापित हो चुकी थी। प्राचीनता की दृष्टि से स्कन्दपुराण को सातवीं शताब्दी या उसके बाद का ही स्वीकार कर सकते हैं। बृहत्संहिता (पाँचवी–छठवीं शताब्दी ईस्वी) वास्तुपुरूष के प्रकरण के सन्दर्भ में अधिकतर मत्स्यपुराण का ही अनुकरण करती है। बृहत्संहिता में वास्तुपुरूष को 'वास्तुनर' के नाम से भी पुकारा गया है।[38] समरांगणसूत्रधार[39] भी वास्तुपुरूषमण्डल की उसी पद्धति और धारणा का अनुसरण करता है, जैसा पहले ही शास्त्रों में वर्णित किया जा चुका है। स्कन्दपुराण,[40] शिल्परत्नम्[42] अपराजिपृच्छा[42] एवं ईशानशिवगुरूदेव पद्धति[43] में वास्तुपुरूष के उद्भव को पैशाचिक ऐहिक व्यक्ति से सम्बन्धित किया गया है, जो शुक्राचार्य द्वारा सम्पादित यज्ञ से पैदा हुआ था। शुक्राचार्य दैत्यों के संरक्षक थे, जो देवताओं द्वारा देवासुर संग्राम में मारे जा रहे थे। तदनुसार देवताओं ने उसे पृथ्वी के नीचे पाताल के मध्य में स्थापित कर दिया, जिसका मुख नीचे की ओर था।[44] नीचे गिरे हुये पुरुष के शरीर में 45 देवताओं और 8 देवियों को स्थापित कर दिया

गया[45] एवं उसकी देह में निवास करने वाले ब्रह्मा जैसे देवताओं को पूजा अर्पित कर दी गयी।[46] तथा 'पुरूष' को वास्तुपुरूष या वास्तु के पुरूष के रूप में जाना जाने लगा, क्योंकि वह धार्मिक एवं लौकिक दोनों ही प्रकार की वास्तु योजना या स्थल का सर्वोच्च था।

वास्तुपदविन्यास–योजना

यह रोचक विषय आधुनिक रेखाचित्र की धारणा के समान है जिसमें भूमि को योजना के अनुसार वर्ग में बाँटना और प्रत्येक वर्ग को एक नाम प्रदान करना है। पुराणों के अनुसार दो प्रकार के रेखाचित्र होते हैं– पहला जिसमें 64 समान वर्ग होते हैं एवं दूसरा, जिसमें 81 समान वर्ग होते हैं। 64 वर्ग वाले रेखाचित्र को 'मुण्डक मण्डल' एवं 81 वर्ग वाले रेखाचित्र को 'परम सायिक' कहा जाता है। पद का रेखाचित्र वास्तुपुरूष के शरीर के हिस्से के अनुरूप होता है।[47] बृहत्संहिता में कहा गया है कि मन्दिर के क्षेत्र को 64 वर्ग के हिस्से में बाँटा जाना चाहिए।[48] इसी प्रकार हयशीर्षपांचरात्र में उल्लेख आया है कि 64 वर्ग का रेखाचित्र तीर्थस्थल के निर्माण के लिये है और 81 वर्ग का रेखाचित्र भवनों के निर्माण के लिये है।[49] चित्र 3 एवं 4 में हम देखते हैं कि वहाँ 45 देवता हैं जिनमें 13 अंदर की ओर एवं 32 बाहर की ओर हैं। अनेक ग्रन्थों जैसे अग्निपुराण, गरूड़पुराण, बृहत्संहिता, हयशीर्षपांचरात्र, ईशानशिवगुरूदेव पद्धति, समरांगण सूत्रधार आदि ग्रन्थों में वास्तु की स्थिति तथा उनके नाम के विषय में एक समान अवधारणा हैं।

भूमि–योजना (पद–विन्यास) में जब एक स्थल का चयन गाँव, नगर या भवन निर्माण के लिये कर लिया जाता है, तब भूमि को अनेक प्रकार के वर्गों में विभाजित किया जाता है। मयमत[50] द्वारा 32 प्रकार के वास्तुपद प्रस्तावित किए गये हैं। अग्निपुराण में उल्लेख आता है कि देश का वास्तु (देशवास्तु) 3,400 वर्गों के पदों में विभक्त है, जहाँ पर ब्रह्मस्थान 64 वर्गों का है। एक वास्तु में सर्वाधिक वर्गों की संख्या 20,000 उल्लिखित की गई है।[51] यदि वर्गों की संख्या सम है तो उनको 64 वर्गों के मुण्डक योजना के अनुसार प्रयुक्त करना चाहिए और यदि वर्गों की संख्या जब विषम है, तो उनको 81 वर्गों के परमसायिक योजना के अनुसार प्रयुक्त करना चाहिए। ये दो योजनाएँ एक अन्य नाम 'सकल' और निष्कल' नाम से भी जानी जाती है।[52] जिसका अर्थ है कि दोनों में से किसी एक में सर्वोच्च सिद्धान्त की उपासना अदृश्य रूप में साथ ही साथ अवतार रूप में मन्दिर में या किसी मूर्ति के रूप में की जाती है। संस्कृत भाषा में एक गृह, एक महल, एक नगर और एक कस्बा, 'वास्तु' कहलाते हैं। एक मण्डल जो पूजा–पद्धति के लिए स्थल निर्माण के शुभारम्भ से पहले बनाया जाये, उसे वास्तुमण्डल कहते हैं। इस पूजा–पद्धति को 'वास्तुप्रतिष्ठा' कहा जाता है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से इसको छठीं–सातवीं शताब्दी ईसा–पूर्व में रख सकते हैं।[53] पौराणिक मण्डल में 64 और 81 पद होते थे, लेकिन मध्यकाल में मण्डलों की संख्या एवं प्रकारों की संख्या बढ़कर 32 32 तक पहुँच गई। शिल्पशास्त्र से सम्बन्धित अनेकों ग्रन्थों में इसका विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। पुराणों में केवल दो प्रकार के रेखाचित्रों की व्याख्या प्राप्त होती है।[54]

64 वर्ग की पदविन्यास योजना

छोटे नगरों की योजना के लिये तथा उसी कोटि में अन्य जैसे खेत और ग्राम के साथ ही साथ राजकीय शिविर (नरेन्द्र शिविर) की योजना के लिये जो स्थल चयनित किया जाता है, उसके लिये 64 वर्ग की पद विन्यास योजना को संस्तुत किया गया है।[55] मत्स्यपुराण के अनुसार, 64 वर्ग फीट के पदविन्यास में ब्रह्मा को 4 फीट या और छोटे वर्गो के केन्द्र में स्थापित किया जाता है। देवताओं को आधा फीट के कोने में, देवों को डेढ़ फीट के बाहरी कोने में, 20 देवों को 2 फीट के वर्गों में स्थापित किया जाता है।[56] पुराणों के अनुसार–अग्नि वास्तु के सिर पर, आप मुख पर, पृथ्वीधर और अर्यमा

उसके वक्षःस्थल पर, आपवत्स सीने पर दिति और पर्जन्य उसके आँख पर, अदिति और जयम्भक कान पर, सर्प और इन्द्र कन्धे पर, सूर्य और चन्द्र दोनों भुजाओं पर, रूद्र और राज्यक्ष्मा बांये हाथ पर, सावित्री और सविता दायें हाथ पर, विवस्वान और मित्र पेट पर, पूषा और अर्यमा कलाई पर, असुर और शोष बायें तरफ, वितथ और गृहक्षत दायें तरफ, यम और वरूण जंघे पर, गन्धर्व और पुष्पदंत घुटने पर, सुग्रीव और भृश, पिण्डली पर, दौवाारिक और मृग नली पर, जय और सक्र इन्द्रिय पर, पितर पैर पर, ब्रह्मा हृदय पर निवास करते हैं।[57]

81 वर्ग की पदविन्यास योजना

आन्तरिक देवी–देवता

पुराणों के अनुसार 81 पद–वास्तु में से मध्य में–

(1) भगवान ब्रह्मा 9 स्थानों पर विराजमान हैं। जो केन्द्रों से जुड़े हैं। (2) अर्यमा(पूर्व) (3) विवस्वान (दक्षिण) (4) मित्र (पश्चिम) (5) पृथ्वीधर (उत्तर)

इसमें से प्रत्येक 6 पद–सदभुज में वास करते हैं और इस तरह कुल 24 वर्ग में वास करते हैं।

पद–कणष्ठ

(मध्य कोने का)

6. सविता समरांगण सूत्रधार के अनुसार इनमे से प्रत्येक को एक पद दिया जाता है। यद्यपि अन्य ग्रन्थ इन्हें दो पद का स्वामी मानते हैं। 7. सावित्री 8. जय 9. इन्द्र 10. यक्ष्मा 11. रूद्र 12. आप 13. आपवत्स

बाहरी देवी देवता

32 देवी–देवता इस स्थल–योजना के बाहरी सीमा पर नियुक्त होते हैं। जिनमें से 8 जिन्हें दो पद दिये जाते हैं, वह बाहर और अन्दर दोनों जगह नियुक्त होते हैं, शेष 24 देवी–देवता भूखण्ड के एक टुकड़े को ग्रहण करते हैं। (चित्र–5)

द्विपदाधीष (2 वर्गो के स्वामी) फूलों से चिह्नित होते हैं, जैसा कि अग्रलिखित तालिका से स्पष्ट है– 14. अग्नि 15. परजन्य 16. जयन्त 17. इन्द्र 18. सूर्य 19. सत्य 20. भृश 21. अंतरिक्ष 22. अनिल 23. पूषन 24. वितथ 25. भ्रतक्षत 26. यम 27. गन्धर्व 28. भृंगराज 29. मृग 30. पितर 31. दौवारिक 32. सुग्रीव 33. कुसुमदन्त 34. वरूण 35. असुर 36. शोष, 37. पापयक्ष्मा, 38. रोग, 39. नाग, मुख्य.41, भल्लाट, 42. सोम, 43. चरक, 44. अदिति, 45. दिति। इस तरह कुल 45 देवी–देवता एवं 81 भूखण्ड होते हैं। मत्स्यपुराण के अनुसार इस योजना के मध्य में ब्रह्मा विराजमान है।

मत्स्यपुराण के अनुसार–तीन प्रकार के मण्डल होते हैं–81 पद वाले, 64 पद वाले तथा 100 पद वाले। सम्पूर्ण योजना के मध्य में ब्रह्मा हैं, जो पूरी भूखण्ड–योजना में से 4 पदों के स्वामी होते हैं। (लेकिन अन्य योजना में यह स्थिति परिवर्तित हो जाती है।) उनके चारों ओर रूद्र और राज्यक्ष्मा (उत्तर–पश्चिम), पृथ्वीधर (उत्तर), आप और आपवत्स (उत्तर–पूर्व), अर्यमा (पूर्व), सवित्र और सविता (दक्षिण–पूर्व), विवस्वान (दक्षिण), बुधाधीप (इन्द्र) और जय (दक्षिण–पश्चिम) और मित्र (पश्चिम)। अन्य देवी–देवता घर के परे वामावर्त दिशा में हैं, जैसे दिति, अग्नि, अदिति, पर्जन्य, जयन्त, कुलशायुध (इन्द्र), सूर्य, सत्य, भृश, नभ, पूषा, अनिल, वितथ, गृहस्त, यम, गन्धर्व, मृग, भृंगराज, दौवारिक, पितर, सुग्रीव, पुष्पदन्त, वरूण और असुर। यह पूर्व से आते हुये, दक्षिण होते हुये, पश्चिम तक वास करते हैं। उत्तर दिशा में पाप, शोष, रोग, नाग, (अहि) मुख्य, भल्लाट, सोम, सर्प, दिति, अदिति, पर्जन्य, अग्नि। मत्स्यपुराण द्वारा निर्दिष्ट व्यवस्था का समरांगणसूत्रधार भी थोड़ा बहुत परिवर्तन के साथ अनुकरण करता है।

यह ध्यान देने योग्य है कि मत्स्यपुराण स्थान और स्थिति की शुरूआत ऊपरी भाग में शिखिन (अग्नि) से करता है। योजना में पूर्व दिशा की ओर, दक्षिण दिशा में जाते हुए, फिर पश्चिम दिशा में होते हुए अन्त में उत्तरी दिशा में पहुँचते हैं। यह वैदिक पूजा–पद्धति का तरीका है जो अग्नि वेदिका के

चर्तुदिक कियाशील दिखता है, साथ ही ईटों को अग्नि चयन में रखते हुए, सोम की डाली को पण्डाल तक लाते हैं। इसे प्रदक्षिणापथ कहते हैं। समरांगणसूत्रधार ब्रह्मा को मध्य में रखते हुए प्रारम्भ करता है, अर्यमा के पूर्व की ओर आता है और इसी प्रकार की प्रदक्षिणा आप और आपवत्स के लिये करते हैं। तत्पश्चात् वह अग्नि से प्रारम्भ करके की प्रदक्षिणा आपः और आपवत्स के लिये करते हैं। तत्पश्चात् वह अग्नि से प्रारम्भ करके बाहरी मण्डल की ओर जाता है, पर्जन्य की ओर आता है शेष व्यवस्था मत्स्य पुराण में निर्दिष्ट उल्लेख की तरह ही है। लेकिन समरांगणसूत्रधार में 4 दुष्ट महिला शक्तियों के विषय में बताया गया है फिर भी कोई पद उनके लिए प्रदान नहीं किया गया। इन दुष्ट महिला शक्तियों को सम्पूर्ण योजना के चारों कोनों पर स्थित किया गया है–

अग्नि से परे	उत्तर–पूर्व	करकी
वायु से परे	दक्षिण–पूर्व	विदारी
पित्रों से परे	दक्षिण–पश्चिम	पूतना
व्याधि (रोग) से परे	उत्तर –पश्चिम	पापराक्षसी

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि वास्तु और वास्तुपुरूष (वास्तुनए) की प्राचीनता को कितना पीछे तक ले जाया जा सकता है इसकी प्राचीनता ऋग्वेद तक जाती है, जहाँ विष्णु अपने 'वास्तुनी' के साथ उल्लिखित है। ऋग्वेद में एक निश्चित देवता, वास्तोशपति एवं उसके विभिन्न रूपों की कल्पना की गयी है, जो कि विष्णु के वास्तुनी के अनुरूप है। पुराणों में उल्लिखित वास्तु अथवा वास्तुपुरूष भयंकर एवं पिशाची प्रकृति का है। वैदिक मान्यताओं में वास्तुपुरूष का रूद्र के साथ समीकरण स्थापित किया जा सकता है, जिसकी भयंकर प्रकृति वेदों में वर्णित है। वह न केवल काले वस्त्र धारण करता है, बल्कि प्रदेश से बाहर निवास करता है एवं उसे वैदिक यज्ञ सीमा में रहने की अनुमति नहीं थी। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि वैदिक देवता रूद्र वास्तुपुरूष के समरूप थे, जैसा कि बाद के ग्रन्थों में वर्णित है, जो कि मत्स्यपुराण का अनुकरण करते हैं।

वास्तु का महत्व

भारतीय संस्कृति में वास्तु का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। वास्तु की अपनी समृद्ध विरासत है। वास्तु पर अनेक रचनाए हैं। किसी स्थान विशेष के चयन से लेकर इसके स्थापत्य के प्रत्येक पक्ष को रहन–सहन ,शरीर एवं मस्तिष्क, तत्व एवं ऊर्जा के सन्दर्भ में विवेचित किया गया है। भूमि वास्तु का सबसे प्रमुख अवयव है। वास्तु का वर्ण के सन्दर्भ में वर्गीकरण मुख्यतः व्यावसायिक दृष्टिकोण एवं सांस्कृतिक आवश्यकता है। वास्तु के सन्दर्भ में सर्वप्रथम चरण उसके लिये 'स्थान' अथवा 'जगह' का परीक्षण है। इसका वैदिक महत्व भी है। पुराणों में भू–परीक्षा के लिए विभिन्न मार्ग अथवा तरीकों का उल्लेख किया गया है जैसे चतुषअस्तिपदा वास्तु, एकाशीति पदा वास्तु, शतपदा वास्तु, पदविन्यास पधाति आदि। इन सब में अन्तिम पदविन्यास पधाति मार्ग बहुत उपयोगी है, क्योंकि इसमें वास्तु के सभी उपादनों का समावेश है।

लोगों के रहन–सहन के आधार पर, निवास–स्थानों का कई प्रकार से वर्गीकरण किया गया है। जैसे–सामान्य व्यक्तियों के निवास–स्थान, राजाओं के निवास–स्थान ईश्वर के रहने का स्थान और सामान्य जनों के उपयोग के लिये स्थान। वास्तु एक प्रकार से खुशहाल समृद्ध जीवन जीने के लिये एक पवित्र माध्यम है।

अधिकांश लोग वास्तु के नियमों पर प्रायः कम ही ध्यान देते हैं तथा गृह–निर्माण के समय अच्छे एवं बुरे सूचकों की अनदेखी करते हैं। जिसके फलस्वरूप वे हानिकारक प्रभाव व आर्थिक नुकसान उठाते हैं तथा इन सबके प्रभाव से एक दुःखदायी और यातनापूर्ण जीवन को व्यतीत करते हैं। वास्तु के नियमों की अनदेखी करने पर गृह–स्वामी पर होने वाले कुप्रभावों का दुष्परिणाम कालान्तर में प्रकट होता है, जिसका अनुभव उसे बाद में होता है। यही कारण है कि अब भवन–निर्माण में वास्तु के शास्त्रीय सिद्धान्तों का महत्व बढ़ गया है तथा भवन निर्माण–योजना में शास्त्रीय प्रावधानों के प्रयोग का चलन बढ़ गया है।

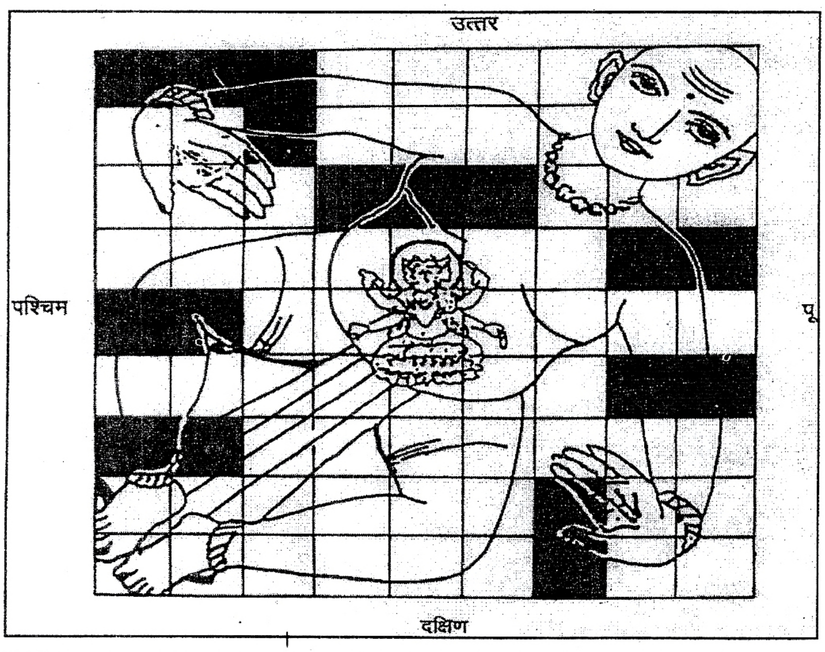

1: वास्तुपुरुष (जगदीश शर्मा (1997) से पुनः आलेखित)

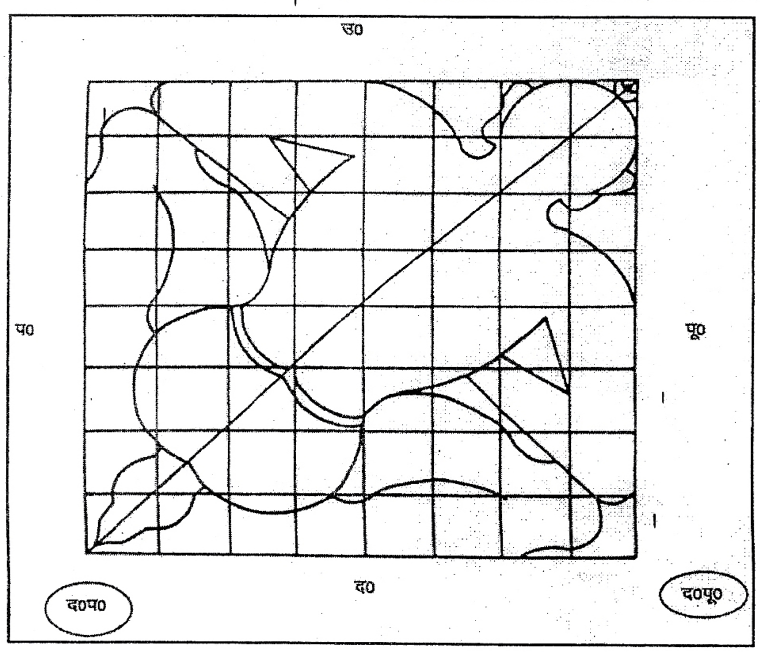

2: मुख नीचे किये हुये साष्टांग दण्डवत मुद्रा में वास्तुपुरुष (मुरलीधर राव (1999) से पुनः आलेखित।)

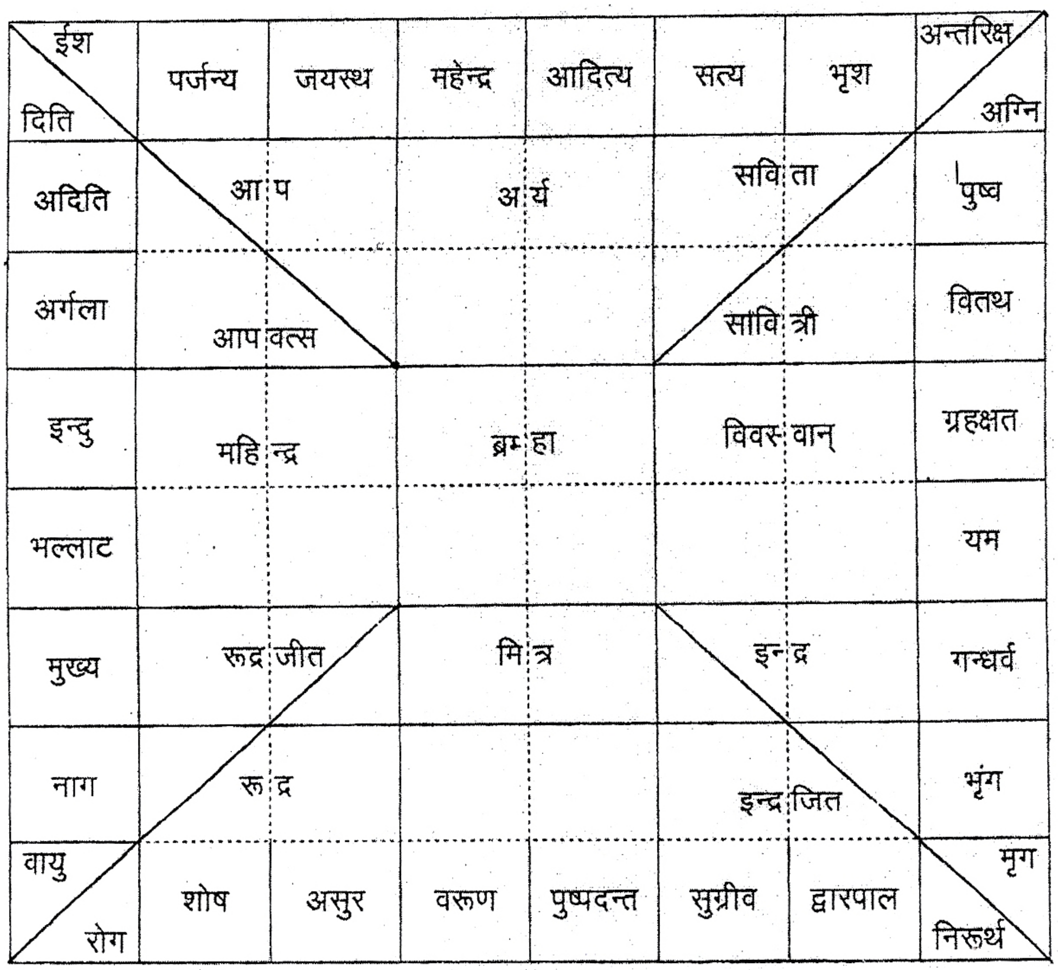

3: 64 वर्ग का वास्तुपुरुष मण्डल (भोजराज द्विवेदी (1998) से पुनः आलेखित)

वायु	नाग	मुख्य	भल्लाट	सोम	भुजग अर्गला	अदिति	दिति	ईशान
रोग या पाप	रूद्र						आप	पर्जन्य
शो	ष	रूद्रराज या राजयक्ष्मा	भू	ध	र	अपावत्स	जय	न्त
असु	र					अर्यमा	महे	न्द्र
वरू	ण	मित्र	ब्र	ह्म	हा		आ	दित्य
पुष्प	दन्त						सत	य
सुग्री	व	इन्द्रराज	वि	वस्	वान	सविता	भृ	श
द्वौवारिक	इन्द्र या जय	भृंगराज	गन्धर्व	यम	गृहक्षत	वितथ	सवित्र	अन्तरिक्ष
पितृगण	मृष						पूष	अग्नि

4: 81, वर्ग का वास्तुपुरुष मण्डल (बी0 निरंजन बाबू (1997) से पुनः आलेखित)

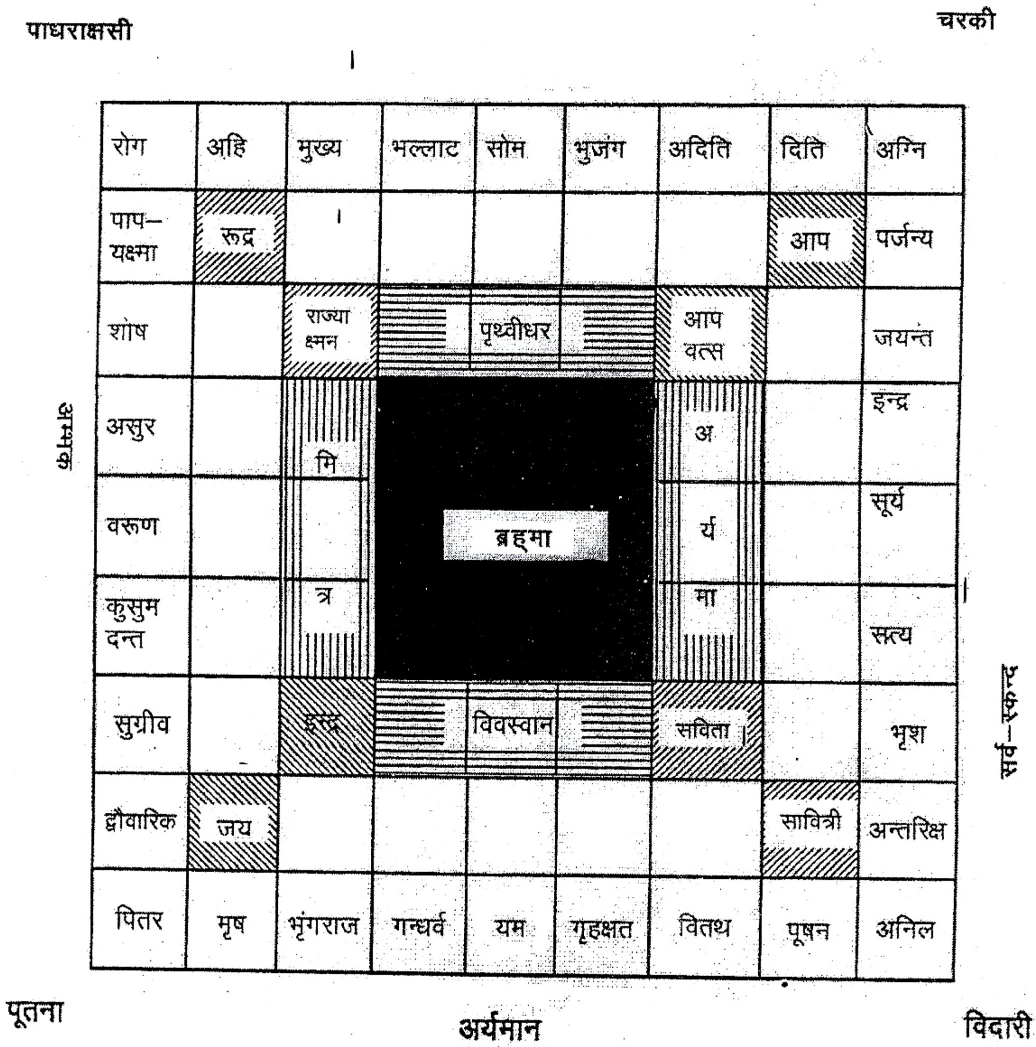

5: 81, वर्ग का वास्तुपुरुष मण्डल (स्टैला क्रैमरिश (1996) से पुनः आलेखित)

सन्दर्भ निर्देश

1. गायत्री देवी वासुदेव, वास्तु अस्ट्रोलॉजी एण्ड आर्किटेक्चर, दिल्ली, 1998, पृ0, 141।
2. अन्नत शशिकला, दि पेन्गुइन गाइड टु वास्तु, नई दिल्ली, 1998 पृ0 5–6।
3. पी0 के0 आचार्य, डिक्शनरी ऑफ हिन्दू आर्किटेक्चर, नई दिल्ली, 1993, पृ0 545।
4. कामिकागम, पृ0 208–210, पी0 के0 आचार्य, तत्रैव पृ0430।
5. मयमत, II, 1.3.9 स्टैला क्रैमरिश, तत्रैव, पृ0 2।
6. ईशानशिव गुरूदेवपद्धति, III, xxxvI, 93 ।
7. विश्वकर्मा वास्तुशास्त्र, 7.61।
8. एम0 मोनियर विलियम, ए संस्कृत इंग्लिस डिक्शनरी, 1976, पृ0 949।
9. अपराजितपृच्छा, 53.9–27; 54.10–26।
10. तत्रैव, 2.17–31।
11. गायत्री देवी वासुदेव, तत्रैय पृ0 215।
12. तत्रैव।
13. ऋग्वेद, VIII, 54, 1–3, 55.1।
14. पाणिनी अष्टाध्यायी, IV, 2.32।
15. रामायण, 1.23, 32, 56य महाभारत, II, 18।
16. अर्थशास्त्र पृ0 187, पी0 के0 आचार्य, तत्रैव, पृ0 546।

ं (I) अगस्त्य–सकलाधिकार, (II) अपराजितपृच्छा (III) भुवनप्रदीप (IV) बृहच्छिल्पशास्त्र (V) काश्यपशिल्प (VI) मानसार (VII) मानसोल्लास (VIII) मनुष्यालय चांडको (IX) मयमत (X) पौराणिक वास्तुशान्ति प्रयोग (XI) प्रयोगमंजरी (XII) प्रयोगपरिजात (XIII) रूपमन्डन (XIV) समरांगण सूत्रधार (XV) शिल्परत्न (XVI) शिल्पशास्त्र (नारद) (XVII) वास्तुमुक्तावली (XIII) वास्तुपुरुषप्रधान (नारद) (XIX) वास्तुराजवल्लभ (XX) वास्तुसंग्रह (XXI) वास्तुशास्त्र (विश्वकर्मा) (XXII) वास्तुशास्त्र (विश्वकर्मा) (XXIII) वास्तुविद्या (XXIV) विश्वकर्म विद्याप्रकाश यह चौबीस ग्रन्थ प्रमुख शिल्पशास्त्र या वास्तुशास्त्र ग्रन्थ हैं। इनके अतिरिक्त और भी बहुत से ग्रन्थ हैं, जिनमें अनेकों का अभी न तो सम्पादन हुआ है और न ही प्रकाशन हुआ है और न ही विशेष अध्ययन। विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य पी0 के0 आचार्य का वास्तुकोष।

17. ऋग्वेद, (xVII) ,54.1।
18. शब्दकल्पद्रुम–राजा राधाकांत देव, भाग (IV) दिल्ली,1987, पृ0 328।
19. शतपथ ब्राह्मण, 1.7.3.7।
20. तैत्तिरीय ब्राह्ाण, 1.7.8.15, 3.7.9.7।
21. आपस्तम्ब श्रौत सूत्र, 13.20।
22. गरूड़ पुराण, अध्याय 46.2–3।
23. गायत्री देवी वासुदेव, वास्तु अस्ट्रोलॉजी एण्ड आर्किटेक्चर पृ0 14 से इस श्लोक का अंग्रेजी अनुवाद ग्रहण किया गया है।
24. अर्थशास्त्र, 65.1।
25. गरूड़ पुराण अध्याय, 46.1।

26. मत्स्यपुराण अध्याय, 252.1.4।
27. वी0एस0 अग्रवाल, मत्स्य पुराण ए स्टडी, अध्याय, 252, 342–43।
28. तत्रैव।
29. विश्वकर्मा प्रकाश, 4.3य अनुवाद, जगदीश शर्मा, भारतीय वास्तुज्ञान, विद्या भवन, जयपुर 1997, पृ0 23।
30. अग्निपुराण अध्याय 93.3।
31. तत्रैव अध्याय, 93.4–6।
32. स्कन्दपुराण, अध्याय, 6.132.7।
33. मत्स्यपुराण, अध्याय 253.5–19।
34. विस्तार के लिये द्रष्टव्य, अग्निपुराण अध्याय 93, 105; मत्स्यपुराण अध्याय, 253 तथा गरूड़ पुराण अध्याय, 46।
35. मत्स्यपुराण, अध्याय 253.V.12 (निवासात् सर्व–देवानाम् वास्तुरित्यभिधीयते)।
36. पी0 वी0 काणे, हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र भाग II, खण्ड 2, द्वितीय संस्करण, पूना, 1977, पृष्ठ 887, मत्स्यपुराण के लिये पृ0 899।
37. बृहत्संहिता, अध्याय, 52।
38. समरांगणसूत्रधार, 4।
39. स्कन्दपुराण अध्याय, 32.9।
40. शिल्परत्नम्, VII, 4.29 ।
41. अपराजितपृच्छा, 53.9–27।
42. ईशानशिवगुरूदेव पद्धति III, XXVI, 93।
43. मत्स्यपुराण, अध्याय 252, 16।
44. तत्रैव, अध्याय, 252, 17।
45. तत्रैव, अध्याय, 253, 18।
46. मत्स्य पुराण, 253,38.46, दोनों प्रकार के रेखाचित्रों के विस्तृत अध्ययन के लिये द्रष्टव्य, स्टैला क्रैमरिश, तत्रैव पृ0 46–50, रेखाचित्र अंकन पृ0 32 (रेखाचित्र, बृहत्संहिता 52, 43; ठक्कुर फेरू का वास्तुसार; पंडित भगवान दास जैन, जयपुर द्वारा सम्पादित पृ0 64, 68 तथा अपराजित पृच्छा सम्पादित एम0ए0 मनकद, पृ0 XV के अनुकरण में है।)
47. बृहत्संहिता अध्याय, 52.73, बृहत संहिता की टीका में इस नियम में एक अपवाद की ओर इंगित किया गया है कि प्राचीन आचार्य विश्वकर्मा ने 64 वर्ग मण्डल के विषय में स्पष्टतः नहीं कहा है। उत्पल ने इसे 81 वर्गमण्डल में ही सम्मिलित माना है।
48. हयशीर्ष पांचरात्र, VIII, 150।
49. मयमत VII 1–32, तथा समरांगण सूत्रधार, III. 52, सर्वप्रथम 9 वर्गमण्डल अथवा 16 वर्ग मण्डल (XII, II) पर विचार प्रारम्भ करते हुये, अन्त में 1000 वर्ग मण्डल तक पहुँचते हैं (XII, 12 तथा III. 52), बृहतसंहिता 64 वर्गमण्डल तथा 81 वर्गमण्डल के अतिरिक्त किसी अन्य वर्ग मण्डल योजना पर विचार नहीं करता है। पुराणों में 64, 81 तथा 100 वर्ग मण्डल का ही उल्लेख मिलता है। वैखानसागम में 7 X 7 योजना को विशेष महत्व दिया गया है।
50. अग्निपुराण, 93, 35–38।
51. अग्निपुराण, अध्याय 93, 30 इसके अतिरिक्त यहाँ यह उल्लेखनीय है कि किसी को भी सम्पूर्ण वास्तु की ही पूजा करनी चाहिए। विभिन्न देव जो मण्डल के विविध अंगो पर निवास करते हैं

आंतरिक रूप से सम्पूर्ण वास्तु से अनुबंधित रहते हैं। एक पद मण्डल के गुणों वाला सकल से यह इंगित होता है कि अतिरिक्त वर्गो की अनुपस्थिति में भी यह संपूर्ण वास्तु है।

52. विस्तार हेतु द्रष्टव्य, आर0 पी0 कुलकर्णी, 'वास्तुपदमण्डल', जर्नल ऑफ दि ओरियन्टल इंस्टीट्यूट, बड़ौदा, भाग XXVII अंक 3—4, 1979, पृ0 107—138।
53. मत्स्यपुराण, अध्याय, 253,268; गरुड़पुराण, अध्याय 46; अग्निपुराण, अध्याय, 40,64,93,105, 106।
54. समरांगणसूत्रधार अध्याय, 13—5।
55. मत्स्यपुराण, अध्याय, 253; अग्निपुराण, अध्याय 40।
56. मत्स्यपुराण, अध्याय, 253; अग्निपुराण, अध्याय 93; गरुड़पुराण, अध्याय 46।
57. मत्स्यपुराण, अध्याय, 253,39—46।
58. समरांगणसूत्रधार, अध्याय 11—14।
59. शतपथ ब्राह्मण, VII, 3.2.11;5—6 (वामन विष्णु को वेदिका में घेरते ही दक्षिण—पश्चिम, उत्तर—पूर्व में गति प्रारम्भ हो जाती है)।
60. ऐतरेय ब्राह्मण, 1.14.3.3।
61. समरांगणसूत्रधार, अध्याय 11.1।
62. 63. ऋग्वेद, I 154.6।
63. तत्रैव, VII. 55.1।
64. तैत्तरीय ब्राह्मण, III, 4.10.3।
65. ऐतरेय ब्राह्मण, 29.9।
66. मत्स्यपुराण, अध्याय 253; अग्निपुराण, अध्याय, 247।